संविदा-शिक्षण: समस्या कहां है?

प्रेम सिंह

अग्निपथ भर्ती योजना, जो असलियत में संविदा सैनिक अथवा ठेका सैनिक योजना है, विरोध और चर्चा क विषय बनी हुई है। इस योजना के तहत 17.6 से 21 साल की उम्र (इस वर्ष 23) को चार साल के लिए ठेके पर सेना में भर्ती किया जाएगा, जो अभी तक सैनिकों को मिलने वाली सुविधाओं और सामाजिक सुरक्षा के हकदार नहीं होंगे। ऐसे में यह देखना जरूरी है कि संविदा प्रथा का क्या हश्र होता है। इसकी सबसे बेहतर मिसाल शिक्षा के क्षेत्र में संविदा प्रथा है, जिसने बहुपरती शिक्षकों की व्यवस्था तय कर दी है। इसके चलते शिक्षा का जो हाल हुआ, वह सर्वविदित है। सर्व शिक्षा अभियान और शिक्षा के अधिकार को सुलभ बनाने के लिए रखे गए लाखों शिक्षा मित्रों से क्या हासिल हुआ, वह भी सर्वविदित है।

शिक्षण में संविदा अथवा ठेका-प्रथा एक स्वीकृत बुराई बन चुकी है. इस प्रथा को समाप्त करने की ज्यादातर शिक्षक संगठनों की मांग महज रस्म-अदायगी बन कर रह गई है. देश के ज्यादातर शिक्षाविदों की भी इस गलत प्रथा को लेकर गहरी चिंता नहीं है. न ही नागरिक समाज की. यह राहत और भरोसे की बात है कि अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच और लोक शिक्षक मंच अभी भी शिक्षण में संविदा-प्रथा का एक समुचित नज़रिए के साथ विरोध करते हैं. शिक्षा के समवर्ती सूची में होने के चलते संविदा-शिक्षक की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है. 80 के दशक में दूर-दराज प्राथमिक विद्यालयों के लिए शुरू की गई यह संविदा-शिक्षक प्रथा 90 के दशक से अभी तक माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों से होती हुई कॉलेजों तक व्याप्त होती चली गई है. सामान्य सरकारी विद्यालय, केंद्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय - सभी में संविदा-शिक्षक काम करते हैं. प्राइवेट स्कूलों में तो बहुत कम शिक्षकों की पक्की नौकरी होती है. उनमें भी बहुत कम को निर्धारित वेतनमान और अन्य सुविधाएं मिलती हैं.

राजधानी दिल्ली के सरकारी स्कूलों में इस समय करीब 20000 अतिथि\संविदा शिक्षक कार्यरत हैं. देश के बाकी राज्यों में भी हर स्तर के स्कूलों में संविदा-शिक्षक रखे जाते हैं. इनमें दो तरह के शिक्षक होते हैं - एक, अतिथि-शिक्षक, जिन्हें प्रतिदिन प्रति कक्षा के हिसाब से भुगतान होता है, दो, संविदा-शिक्षक, जिन्हें महीने का एकमुश्त भुगतान होता है. दोनों स्थितियों में इनका वेतन स्थायी शिक्षकों के मुकाबले बहुत ही कम होता है. उन्हें अन्य सुविधाएं नहीं मिलतीं और उन्हें कभी भी नौकरी से हटाया जा सकता है.

अध्ययन बताते हैं कि संविदा-शिक्षक स्थायी शिक्षकों से अधिक काम करते हैं. इनकी शैक्षणिक योग्यता स्थायी शिक्षकों के बराबर या अधिक होती है. उनका शिक्षण का परिणाम भी स्थायी शिक्षकों के समान होता है. लेकिन समान योग्यता, समान कौशल, समान शिक्षण परिणाम के बावजूद 'समान काम का समान वेतन' वाला संवैधानिक नियम, जिसे न्यायालयों ने भी बार-बार अपने निर्णयों में स्वीकृति दी है, संविदा शिक्षकों पर लागू नहीं होता. संविदा श्रम कानून 1970 का उद्देश्य संविदा श्रम को ख़त्म करना था. लेकिन मौजूदा व्यवस्था में एक के बाद एक श्रम कानूनों का डाईल्युशन शिक्षण ही नहीं, सभी क्षेत्रों में श्रम के

शोषण की व्यवस्था को स्थायी बनाता है. कोरोना काल में लागू की गईं 4 श्रम संहिताएं हर क्षेत्र के श्रमिकों को नियोक्ताओं, वह सरकारें हों या उद्योगपति, का गुलाम बनाने वाली हैं. संविदा नियुक्तियां संविधान के नियमों-निर्देशों के विपरीत पूरे देश में धड़ल्ले से चल रही हैं. निगम भारत के शासक-वर्ग ने जैसे मान लिया है कि संविदा-शिक्षक ऐसे भिखारी हैं, जिन्हें चयन का अधिकार नहीं है!

संविदा-प्रथा उच्च-शिक्षा में भी जड़ जमा कर बैठी हुई है. देश में निजी विश्वविद्यालयों का जाल बिछ चुका है. वहां शिक्षक की नौकरी की गारंटी नहीं होती. उनके स्वतंत्र रूप से लिखने-पढ़ने अथवा सामाजिक-राजनीतिक मसलों पर आयोजित कार्यक्रमों में हिस्सेदारी करने पर बंदिश होती है. मेरे मित्र डॉ. रणधीर गौतम हाल तक एक निजी विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के शिक्षक थे. कुछ गांधीवादी आयोजनों में हिस्सेदारी करने पर अथॉरिटी ने उनसे त्यागपत्र मांग लिया. पिछले दिनों प्रो. प्रतापभानु मेहता का मामला काफी सुर्ख़ियों में रहा. मैं कई मित्रों को जानता हूं, जो सार्वजानिक क्षेत्र के विश्वविद्यालय को छोड़ कर निजी विश्वविद्यालय में नौकरी करने गए. उसके बाद उनकी किसी सामाजिक-राजनीतिक मसले पर न आवाज़ सुनाई दी, न ही हिस्सेदारी देखने को मिली. निजी विश्वविद्यालयों का हर शिक्षक, दरअसल, संविदा-शिक्षक होता है.

ज्यादातर राज्य और केंद्रीय विश्वविद्यालय विभिन्न रूपों में संविदा-शिक्षण के रोग से ग्रस्त हैं. यहां केवल दिल्ली विश्वविद्यालय की स्थिति का जिक्र करना पर्याप्त होगा. दिवि में इस समय करीब 5 हज़ार तदर्थ शिक्षक हैं. इन्हें हर चार महीने बाद एक दिन का बिच्चा देकर फिर से नियुक्त किया जाता है. ये प्रत्येक अकादमिक सत्र में कॉलेज प्रशासन द्वारा लगाए-हटाये जाते रहते हैं. इस प्रक्रिया में उन्हें तदर्थ से अतिथि शिक्षक भी बना दिया जाता है. दिवि में यह स्थिति पिछले करीब 15 सालों से बनी हुई है.

शिक्षक समुदाय इस आशा में था कि एक दिन तदर्थवाद ख़त्म होगा और स्थायी नियुक्तियां होंगी. लेकिन 16 जनवरी 2019 की विद्वत परिषद (अकेडमिक कौंसिल) की बैठक में दिवि में संविदा-शिक्षण का नियम बना दिया गया. विद्वत परिषद के सभी चुने हुए प्रतिनिधियों ने इस फैसले का विरोध किया. दिल्ली विश्वविद्यालय की सर्वोच्च संस्था विद्वत परिषद में शिक्षक समुदाय से चुने गए 26 प्रतिनिधियों के अलावा 150 से अधिक पदेन और मनोनीत सदस्य होते हैं, जिनमें विभागों के अध्यक्ष, प्रोफेसर और कालेजों के प्रिंसिपल शामिल हैं. 16 जनवरी की बैठक में उपस्थित किसी भी पदेन व मनोनीत सदस्य ने फैसले का विरोध छोड़िये, उस पर बहस भी जरूरी नहीं समझी.

कुलपति समेत दिवि के किसी प्रोफेसर-प्रिंसिपल को नहीं लगा कि अगर कैरियर की शुरुआत में उन्हें दशकों तक तदर्थ या ठेके पर रखा जाता तो वे जिस मुकाम पर हैं, क्या वहां पहुंच पाते? जो पद, अनुदान, प्रोजेक्ट, विदेशी कार्यभार आदि वे हासिल किये हुए हैं, क्या उन्हें मिल पाते? क्या अपने बच्चों को सेटल कर पाते? प्रोविडेंट फंड, पेंशन, मेडिकल फैसिलिटी, इंश्योरेंस आदि के साथ अपना अवकाश प्राप्ति के बाद का भविष्य सुनिश्चित कर पाते? यह बात दूसरी तरह से भी पूछी जा सकती है. अगर उन्हें पढ़ाने वाले शिक्षक तदर्थ, ठेके पर या अतिथि भर होते, और इस नाते बार-बार बदलते तो वे अपने विषय को पूरी

गहराई के साथ समझ पाते? ज़ाहिर है, निजीकरण-उदारीकरण की आंधी में देश के शिक्षकों का दायित्व-बोध भी उड़ गया है.

संविदा-शिक्षण की समस्या पर अलगाव में नहीं, देश की समग्र शिक्षा-व्यवस्था के सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिए. और समग्र शिक्षा-व्यवस्था पर विचार देश में बेरोक चलने वाली नवउदारवादी व्यवस्था के सन्दर्भ के बाहर नहीं किया जा सकता. 1991 में लागू की गईं नई आर्थिक नीतियों के साथ विश्वबैंक, आइएएफ और डब्ल्यूटीओ के निर्देश पर शिक्षा में नवउदारवादी एजेंडा लागू करने की शुरुआत हो गई थी. शिक्षा पर नवउदारवादी एजेंडा थोपने के समय शिक्षाविदों, विचारकों, जागरूक नागरिकों और कतिपय नेताओं द्वारा जो आशंकाएं ज़ाहिर की गई थीं, आज वे हकीकत बन चुकी हैं. शिक्षा के नवउदारवादी एजेंडा के तहत भारत में स्कूली और उच्च शिक्षा का बड़े पैमाने पर व्यापारीकरण, निजीकरण, अवैज्ञानिकीकरण, बहुपरतीकरण (नई शिक्षा नीति 2020 में शामिल शिक्षा का डिजिटलीकरण बहुपरतीकरण की ही एक और बानगी है); और नतीजतन तुच्छिकरण हो चुका है. वर्तमान केंद्र सरकार ने इसमें संप्रदायीकरण का अपना अतिरिक्त एजेंडा चस्पा कर दिया है.

जो सरकारें शिक्षा जैसे मनुष्य और समाज के लिए आधारभूत विषय के प्रति इस कदर गैर-जिम्मेदार हों, वे शिक्षकों और विद्यार्थियों के प्रति भी गैर-जिम्मेदार रवैया रखें तो आश्चर्य की बात नहीं है. दरअसल, शिक्षण में ठेका-प्रथा पर विचार के लिए जहां समग्र शिक्षा-व्यवस्था का सन्दर्भ जरूरी है, वहीं स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थियों तथा कर्मचारियों - चपरासी, माली, हॉस्टल के खानसामा/बेयरा, पुस्तकालय/प्रयोगशाला परिचारक और प्रशासनिक स्टाफ - का सन्दर्भ भी जरूरी है. राज्य/सरकार का शिक्षा के प्रति गंभीर और जिम्मेदार नजरिया होगा तो वह शिक्षकों के प्रति भी काम करेगा. यानि शिक्षकों के प्रशिक्षण, चयन और पक्की नौकरी की समुचित व्यवस्था होगी. वैसी ही व्यवस्था शिक्षण संस्थाओं के अन्य कर्मचारियों के लिए भी होगी. इसका सीधा लाभ विद्यार्थियों को होगा. शिक्षा में नवउदारवादी एजेंडा लागू किये जाने के पहले भारत में शिक्षण की ऐसी ही व्यवस्था थी. बजाय उस व्यवस्था को विस्तृत और मजबूत बनाने के शिक्षण में ठेका-प्रथा घुसा दी गई. यह उन्हीं लोगों ने किया जो पहले की व्यवस्था में पढ़ कर आगे आए थे.

जहां अरबों रुपया चुनावों पर, अरबों रुपया सरकारों/नेताओं के विज्ञापनों पर, अरबों रुपया नेताओं की सुविधाओं पर, अरबों रुपया नित नवीन लग्जरी निर्माणों पर ... पानी की तरह बहाया जाता हो; और इस सब के लिए राष्ट्र के बेशकीमती संसाधनों को देशी-विदेशी कारपोरेट घरानों को ओने-पौने दामों पर बेचा जाता हो, वहां संविदा-शिक्षण के लिए वित्तीय संसाधनों की कमी का तर्क देने वाले या तो नादान हैं या बेईमान. शासक-वर्ग में गंभीरता, ईमानदारी और इच्छा-शक्ति हो, तो एक झटके में संविदा-शिक्षण की प्रथा समाप्त की जा सकती है.

(*समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के पूर्व फ़ेलो हैं।*)